

भारतीय आधुनिकता की संरचना में ज्ञान की अवस्थिति

शचीन्द्र आर्य

प्रवेश

आधुनिकता को लेकर हमारे भीतर कई सारे प्रश्न लगातार चलते रहते हैं। क्या हम परंपरा से एक सचेत दूरी को तो आधुनिकता नहीं मान बैठे हैं? क्या परंपरा और आधुनिकता में कोई वास्तविक विरोधाभास है? प्रश्न तो यह भी है कि क्या यह 'आधुनिकता' या 'आधुनिक होना' समय के साथ-साथ बदलता रहता है या हमेशा एक-सा रहता है? क्या किसी खास तरह की जीवनशैली को ही 'आधुनिकता' कहा जा सकता है। यह आधुनिकता किन मूल्यों से मिलकर बनी है? क्या कोई सार्वभौमिक आधुनिकता हो सकती है? वर्तमान समय में जबकि 'आधुनिकता' की वैश्विक स्तर पर समीक्षा, आलोचना एवं पुनर्रचना हो रही है, तब इसे अवधारणात्मक रूप से समझना अति आवश्यक हो जाता है।

इस पृष्ठभूमि में यह लेख भारतीय आधुनिकता की जटिल संरचना को समझने का प्रयास है। हम औपनिवेशिक इतिहास से शुरू करते हुए यह समझने का प्रयास करेंगे कि आधुनिकता का विमर्श राष्ट्र के रूप में भारत को कहां स्थित करता है? किस तरह भारतीय परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता को चिह्नित कर सकते हैं? किन सावधानियों के साथ यह समझना होगा कि यह आधुनिकता की सार्वभौमिक प्रतीत होती व्याख्याओं से भिन्न है तथा किन तत्वों में हम इन दो आधुनिकताओं की समानताओं से परिचित हो सकते हैं।

इसका दूसरा हिस्सा आधुनिकता के इस विमर्श में 'ज्ञान' को स्थित करने से सम्बंधित है। 'ज्ञान किसे माना गया' से शुरू इस पड़ताल में क्या हम दूसरों की तरह दावे के साथ यह कह सकते हैं कि आधुनिक होने का रास्ता शिक्षा से जाता है? किसी को शिक्षित और अशिक्षित कहने का क्या तात्पर्य है? एक अर्थ में क्या शिक्षा को आधुनिक मूल्यों का वाहक माना जा सकता है? शिक्षा में परिवर्तन लाने की क्षमता को तो स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन इसे विकास के विमर्श में आधुनिकता का उपकरण माना जा रहा है, क्या यह व्याख्या हमारे समाज को समझने के लिए पर्याप्त आधार भूमि मुहैया करा पाती है? इस बातचीत में क्रमशः यह भी स्पष्ट होता जाएगा कि आधुनिकता और शिक्षा के मध्य अंतर्क्रिया ने कैसे ज्ञान को गढ़ा और उसके ऐसा करने से आज हम किस तरह के सामाजिक तानेबाने को बुन रहे हैं।

I

आधुनिकता और औपनिवेशिक इतिहास

अनुशासन के रूप में इतिहास व समाजशास्त्र हमें बताते हैं कि 'आधुनिकता' पश्चिमी युरोप में जन्मा विचार और सिद्धान्त है। समकालीन भारत में आधुनिकता की क्या समझ है (?), इसके लिए हमें अतीत में औपनिवेशिक इतिहास तक जाना होगा, जहां हम यह देख पाएंगे कि यह 'आधुनिकता' किन घटनाओं और प्रक्रियाओं के मध्य निर्मित हो रही थी। जब हम कहते हैं, 'निर्मित हो रही थी' तो हमारा यह अर्थ नहीं है कि वह आज भी तब जैसी ही है, यह अतीत में उसके बनने का इशारा भर है। वह बन आज भी रही है।

19वीं तथा 20वीं शताब्दी में पूरी दुनिया में नाटकीय परिवर्तन होते हैं, जब पश्चिमी यूरोप 'एशिया' और 'अफ्रीका' में अपने महत्वपूर्ण उपनिवेश स्थापित करने में सफल हो जाता है। उपनिवेशवाद पूरी दुनिया को अपनी शक्ति में तब्दील कर रहा था (देशपांडे : 2003)। उसके पास यह शक्ति या समझ यूरोपीय नवजागरण, पुनर्जागरण के मध्य जन्मी उस विशेष सामाजिक व्यवस्था (तंत्र) से प्राप्त हो रही थी और उसके भीतर से निकले 'मूल्यों' और 'संस्थाओं' को 'आधुनिकता' के रूप में लिया जाने लगा।

औपनिवेशिक सत्ता ने अपने इतिहास और इतिहास लेखन के क्रम में खुद को आधुनिक होने का पर्याय मान लिया। आधुनिक होने के लिए यूरोपीय शासकों के पास उसके रूप को निर्धारित करने एवं उसे पारिभाषित करने का अधिकार था। यह परिभाषा 'अंतर' पर आधारित थी। जो भी आधुनिक होना चाहता है, उसे उनकी तरह होना होगा। उनके जैसी जीवनशैली, विचार प्रक्रिया, सांस्कृतिक मानकों को स्वीकारना होगा (होसागरहार : 2005)। औपनिवेशिक इतिहास में यह निर्णायक क्षण थे, जब यूरोपीय शासक स्वयं को 'आधुनिक' कह रहे थे। ऐसा कहकर वह दुनिया को देखने का सबसे सरल और सबसे आसान पैमाना दे रहे थे, जिसमें पूरी दुनिया उनके लिए 'आधुनिक' नहीं थी। इसके साथ-साथ आधुनिकता के अंदर जो सार्वभौमिकता का अर्थ है, वह इसी उपनिवेशवाद से उसे प्राप्त हुआ। इस रूप में यूरोपीय आधुनिकता स्वयं को 'सार्वभौमिक' कह पाई और अपनी सार्वभौमिक स्वीकार्यता का दावा प्रस्तुत कर सकी।

यदि हम इतिहास में घटित इस पृष्ठभूमि को ध्यान से देखें, तब हमारे सामने अगला प्रश्न होगा, वे कौन से मूल्य और संस्थाएं थीं, जो उन शताब्दियों में वहां आकार ले रही थीं? इस कोशिश में शायद हमारे दिमाग में औद्योगीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण समाज से शहरी समाज की तरफ संक्रमण काल की छवियां बनने लगेंगी। यह काफी हद तक सही भी हैं। जहां समाज सरल श्रम विभाजन से जटिल श्रम विभाजन और कौशल प्रधान संरचनाओं की तरफ बढ़ता है। भूमि का उपयोग कृषि के बजाय उद्योग लगाने तथा उसके लिए मजदूरों के रूप में उजड़ गए किसानों के परिवार शहरों या औद्योगिक केन्द्रों की तरफ पलायन कर जाते हैं। जॉन डीवी (1859-1952) बिल्कुल इसी समय के शिक्षक हैं। वे उस अमेरिका को इसी तरह बनते हुए देख रहे थे। तत्कालीन अमेरिकी समाज ग्रामीण से शहरी औद्योगिक राष्ट्र की तरफ संक्रमण कर रहा था। तब उनके सामने ऐसे समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाए रखने का संकट था। वह अपने शिक्षाशास्त्रीय विचारों के जरिये आजीवन इसी प्रश्न से जूझते रहे, कैसे इन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के बीच किसी लोकतांत्रिक समाज को बचाया जा सकता है?

किन्तु हमें थोड़ी देर के लिए ठहरना होगा। हम शायद यह भूल रहे हैं, कि हमने उपरोक्त चर्चा में आधुनिकता के विमर्श को औपनिवेशिक काल से देखना प्रारम्भ किया है। यह बात सही है कि भारतीय आधुनिकता पर अंग्रेजी साम्राज्य का बहुत गहरा असर पड़ा है। महात्मा गांधी से लेकर आशीष नंदी आदि चिन्तक यह मानते हैं, इस काल ने हमारे 'आत्म' (सेल्फ) को बहुत क्षति पहुंचाई है। हम कभी-कभी उस दौर से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसके बाहर देख भी नहीं पाते। किन्तु आधुनिकता के इस विमर्श में हमें आगे बढ़ने से पहले देखना होगा, इस औपनिवेशिक इतिहास ने किस तरह हमारी समझ में विरोधाभासी युग्मों का निर्माण किया।

विरोधाभासी युग्मों (Binary) का निर्माण

पश्चिमी योरप में घटित हो रहे नवजागरण ने सिर्फ आधुनिक युग को तर्क या तार्किकता के साथ ही नहीं जोड़ा बल्कि हरबंस मुखिया (2013 : 03) बताते हैं, इसने अपने विपरीत अतार्किकता या अंधविश्वास जैसे विरोधाभासी संबंध प्रदर्शित करने वाले युग्म (Binary) का निर्माण किया। जिनका संबंध इसके पूर्व के युगों (मध्यकाल आदि) के साथ समझा जाने लगा। इसके निर्माण का एकमात्र आधार तार्किकता द्वारा सारे संसार में फैले अंधविश्वास पर विजय प्राप्त करना था। इस तरह आधुनिकता की 'वस्तुनिष्ठ' (Objective) छवि 'वस्तुनिष्ठ वास्तविकता' और 'व्यक्तिपरक समझ' के बीच एक विरोधाभासी संबंध का निर्माण कर देती है। इस संबंध में जब हम शिक्षा पर आगे बात करेंगे, तब हम पाएंगे, इस प्रक्रिया में किस तरह ज्ञान के एकमात्र स्रोत के रूप में 'वस्तुनिष्ठता' को स्वीकार किया गया, जिसने पूरे शैक्षिक विमर्श को नियंत्रित व प्रभावित किया।

फिलहाल, थोड़ी देर के लिए अपने चारों तरफ देखिए। हम कितनी तरह के युगों या 'बाइनरीज़' से घिरे हुए हैं, जो इस दुनिया को देखने में हमारी मदद कर रही हैं। इस प्रक्रिया में निर्मित हुए वर्गीकरण ने हमारे सोचने-समझने के कई ऐसे कायदे दिए, जिसमें काले और सफेद का फर्क तो रहा, मगर बीच के तमाम रंग गायब हो गए। आदित्य निगम उदाहरण देते हुए बताते हैं 'आधुनिकता' बनाम 'परंपरा', 'विज्ञान' बनाम 'अज्ञानता', 'तर्कबुद्धि' बनाम 'अंधविश्वास', 'राष्ट्रवाद' बनाम 'साम्राज्यवाद', 'सेकुलरिज्म' बनाम 'सांप्रदायिकता' जैसी एक-दूसरे के खिलाफ खड़ी जोड़ियों के आधार पर बनी अवधारणाओं के जरिए हम सोचने के आदी हो गए और इन्हीं के जरिए हम अपनी दुनिया को समझने की कोशिश करते हैं। इस विरोधाभास का एकमात्र कारण उस 'दृष्टिकोण' में है, जो इस तरह विदेशी शासकों के साथ हमारे चिंतन में आया। हम इसी में अपने चिंतन और विचार की ऊर्जा व्यय करते रहते हैं।

विचार की इसी कड़ी में अगर हम समाजशास्त्री सतीश देशपांडे (2003) की बात जोड़ लें, तब शायद यह समकालीन परिदृश्य हमें और बेहतर नजर आने लगेगा। वे कहते हैं, हमें आज को समझने के लिए इस तरह के वर्गीकरण से बचने की जरूरत है। यह 'परंपरा' और 'आधुनिकता' वाली धुरी हमें संस्थाओं, संबंधों, प्रक्रियाओं, संदर्भों के बारे में उन महत्वपूर्ण अंतरों को बताने में अक्षम है, जिनकी सहायता से हम इन सबमें भेद कर सकें। हमें इस तरह के सुविधाजनक विश्लेषणों से बचना होगा। यह आज हमारी किसी भी तरह से मदद नहीं करते। क्योंकि आज हम इन विरोधाभासी विलोमों का उपयोग करके समाज में हो रहे परिवर्तनों की बारीकियों को ध्यान से नहीं देख पाएंगे। विरोधाभासी युगों की यह संरचना किस तरह ज्ञानमीमांसीय आधारों को निर्मित करती है, इस प्रकरण को हम ज्ञान से संबंधित हिस्से में देखेंगे। हम वहां पाएंगे, कैसे यह वही आधार है, जिसके सहारे औपनिवेशिक सत्ता 'देशज ज्ञान' को 'ज्ञान' के पद से ही अपदस्थ कर देती है।

भारतीय संदर्भ में आधुनिकता

फिलहाल मुझे लगता है, आधुनिकता की अवधारणा को समझने से पहले अब तक की चर्चा में साफ तौर पर निकलकर आ रही प्राप्ति पर एक दृष्टि डालना उचित होगा। इस चर्चा में पहली बात जो निकल कर आई, वह यह कि, इतिहास में पीछे जाने पर हम यह जान पाए कि 'आधुनिकता' और 'उपनिवेशवाद' में क्या संबंध है। दूसरी महत्वपूर्ण बात, वह सभी मूल्य एवं संस्थाएं जो कहीं-न-कहीं पुनर्जागरण एवं नवजागरण के बाद बनी सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से उत्पन्न हुई, उन्हें 'आधुनिकता' के रूप में स्वीकार कर लिया गया। तीसरा रेखांकित करने योग्य तथ्य यह, कि इस संपूर्ण प्रक्रिया के मध्य जो 'युग्म' बने, उनमें वे सब 'अनाधुनिक' मान लिए गए, जो अपनी उपनिवेशवादी सत्ता जैसा आचरण या विचार पद्धति को नहीं स्वीकार करते थे। हम इनसे चाह कर भी बच नहीं पाते हैं।

यहां तक आते-आते यदि आपको कहीं ऐसा आभास हो रहा है कि चूंकि हम एक यूरोपीय देश के उपनिवेश रह चुके हैं और हमारे देश में भी उन्हीं मूल्यों, संस्थाओं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति हुई, जिसके फलस्वरूप हम अब आधुनिक राष्ट्र के रूप में स्थापित हो चुके हैं, अब हमें कुछ भी प्रयास करने की जरूरत नहीं है, तो हमें तुरंत सचेत हो जाना चाहिए। कई समकालीन चिंतकों ने यह दिखाया है कि ऐसा बिल्कुल भी नहीं है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता के दावे को जांचते हुए राजनीतिक चिन्तक आदित्य निगम (2000) कहते हैं कि आधुनिकता कई शोषित वर्गों के लिए स्वतंत्रता का संदेश लेकर आई थी। परंतु हम पिछले दो दशकों (नवउदारवाद के बाद के समय) से देख रहे हैं, आधुनिकता के उस 'नागरिक' का सपना टूट गया। वह जो यह दावा कर रही थी कि आधुनिक समाज की आखिरी मंजिल वह है, जब हर नागरिक को एक समान नागरिकता मिल जाएगी और तमाम तरह की पहचानें आधुनिक विकास के साथ गायब हो जाएंगी। ऐसा नहीं हुआ। इसकी जगह हम पाते हैं, पिछले बीस वर्षों में यह पहचानें मिटी नहीं, बल्कि उनकी पुनर्रचना हो रही है तथा छोटी अस्मिताओं की बगावत कई बिन्दुओं पर दोबारा से सोचने के लिए मजबूर करती है।

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है, हमारे देश में किस तरह की आधुनिकता विद्यमान है? इस सवाल का जवाब देते हुए दीपांकर गुप्ता (2000) इतिहास में पीछे लौटते हुए कहते हैं कि भारत का आधुनिकता के भीतर प्रवेश बिन्दु यूरोप और अमेरिका से बिल्कुल भिन्न है। बीसवीं शताब्दी के मध्य में शुरुआत करने के कई लाभ भारत को प्राप्त होते हैं।

वह एक स्वतंत्र लोकतान्त्रिक राष्ट्र के रूप में स्थापित होता है। जिसमें सभी को सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार प्राप्त हैं, स्त्री और पुरुषों के मध्य विधिक समानता है, अल्पसंख्यक संरक्षण कानून हैं, ऐतिहासिक रूप से पिछड़े शोषित वर्गों के लिए आरक्षण के रूप में सकारात्मक भेदभाव है। लेकिन इसके साथ वह यह भी कहते हैं कि 'आधुनिकता' के लिए न्यूनतम शर्त या स्थिति है, दूसरों के प्रति सम्मान।

यह केवल आधुनिक समाजों की नैतिकता के अंतर्गत उन समाजों में व्यवहृत हो रहा है। आधुनिकता ने इसे कई तरह से किया, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण है, इसके द्वारा जन्म से प्राप्त विशेषाधिकारों को स्थगित कर देना। संक्षेप में इस तरह 'आधुनिकता' यूरोप में प्रारम्भ होती है। जब भारत में यह विशेषता आसानी से दिखने लगेगी, तब हम कह सकेंगे, वह आधुनिकता के निकट है। भारत अचानक रातों रात अपने अतीत को छोड़कर 'आधुनिक' नहीं हो सकता। संविधान जिस तरह धार्मिक स्वतंत्रता देता है, जातिगत भेदभाव के प्रति संरक्षण देता है, यह सैद्धांतिक रूप से राजनीतिक तौर पर अच्छे प्रावाधान हैं, किन्तु इस समानता को भारत के नागरिक निजी स्तर पर कितना ला पाए हैं, यह बिल्कुल दूसरी बात है।

II

ज्ञान और आधुनिकता

भारतीय आधुनिकता की संरचना से परिचित होने और उसकी सीमाओं को देख लेने के उपरान्त इस खंड में हम ज्ञान और आधुनिकता के सम्बन्धों की चर्चा करेंगे। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि आधुनिकता का विमर्श ज्ञान को लेकर किन अवधारणाओं और पूर्वाग्रहों से संचालित होता रहा है। यह विमर्श किस तरह औपनिवेशिक काल में देसी लोगों को अपने द्वारा लाई गई शिक्षा पद्धति में अज्ञानी ही नहीं कहता बल्कि उनके पास ज्ञान जैसा कुछ है, इस दावे को भी वह खारिज कर देता है। वह यह कैसे करता है, इसका संकेत यथा स्थान ऊपर किया गया है। यहां हम उस पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे। फिर हमें इस सवाल का जवाब भी तो खोजना है, क्या यह दोनों इस तरह गुथे हुए हैं जैसा कि कहा जाता है 'आधुनिक' होने का रास्ता इस 'शिक्षा' से ही जाता है। चलिए देखते हैं।

आज हम जिसे औपचारिक शिक्षा के रूप में अपने चारों तरफ चिह्नित कर पा रहे हैं, वह औपनिवेशिक काल में आकार लेना प्रारम्भ करती है। उसी समय पारंपरिक शिक्षा प्रणाली से अलग इस व्यवस्था के आने से हम फुले, अम्बेडकर के जीवन और चिंतन में देखते हैं, यह 'शिक्षा' पहली बार सामाजिक न्याय का प्रश्न बनकर उभरती नजर आती है। यह बिल्कुल सही है कि पहली बार वह शोषितों के लिए स्वतंत्रता का संदेश बनकर आई और इस अप्रत्याशित घटनाक्रम के बीच हमारे यहां उत्पन्न होने वाली संरचनाओं और संस्थाओं में यह एक महत्वपूर्ण संस्था थी। लेकिन जैसे ही हम 'ज्ञान की वैधता' या 'सही ज्ञान किसे कहा जाए'? आदि प्रश्नों को टटोलना शुरू करते हैं, हमें निराशा ही हाथ लगती है।

'शिक्षा, संस्कृति और आधुनिकता' के संदर्भ में बात करते हुए संजय श्रीवास्तव (2015 : 118) कहते हैं कि भारत में आधुनिक विद्यालयी तंत्र के सुदृढीकरण में शैक्षिक नियंत्रणों (educational regime) का ध्यान इस देश के निवासियों के व्यक्तित्व और उनके व्यक्तित्व में कमियों की तरफ सर्वाधिक था। क्योंकि यह कमियां किसी भी रूप में होने वाले 'विकास' के लिए सबसे बड़ी बाधा थीं। पहले इन बाधाओं का हटाया जाना जरूरी था। तभी विकास की कोई योजना सफल हो सकती थी। शिक्षा इन्हीं बाधाओं को हटाने का उपक्रम थी। यही बाधाएं प्रोफेसर कृष्ण कुमार की पुस्तक 'पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन' (1991) में परम्परा प्रदत्त ज्ञान, उनके अर्जित अनुभव और संस्कृति के रूप में उभरती हैं, जिन्हें औपनिवेशिक शिक्षा कभी भी अपनी पाठ्यचर्या में शामिल ही नहीं करती।

औपनिवेशिक शिक्षा नीति ने ज्ञान और कौशलों की देशी परम्पराओं को पाठ्यचर्या में कोई जगह नहीं दी। औपनिवेशिक सत्ता की दृष्टि से एक ऐसी शिक्षा की नींव रखी गई जो 'वैज्ञानिक' एवं 'सार्वभौमिक' थी तथा जिसके लक्ष्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक विविधता से आगे जाते थे। पाठ्यचर्या के इतिहास की चर्चा करते हुए पूनम बत्रा (2015, 37) रेखांकित करती हैं कि 'यह संदर्भों से कटी हुई संदर्भ विहीन शिक्षा थी, इस कारण शिक्षा और संस्कृति के मध्य जो दूरी उत्पन्न हुई वह संघर्ष की स्थिति का कारण बनी'।

इस संघर्ष में दो पक्ष उभरे। एक औपनिवेशिक शासन का, जिसका लक्ष्य अधीनस्थ औपनिवेशिक नागरिकों का निर्माण करना था। वहीं दूसरी तरफ, महात्मा गांधी तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि के (राष्ट्रवादी) प्रयास थे, जो भारतीयों को औपनिवेशिक शिक्षा के दुष्परिणामों से मुक्त करना चाहते थे। वह ऐसे लोगों का निर्माण करना चाहते थे, जो सामाजिक सांस्कृतिक रूप से अपनी जड़ों से जुड़े रहें। वे सशक्त रूप से एक ऐसा ढांचा खड़ा करना चाहते थे, जो सिर्फ कोरी आलोचना न होकर एक मजबूत विकल्प के रूप में समाज को आगे ले जाए। 'शांतिनिकेतन' और वर्धा की 'नई तालीम योजना' इसी औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना से उपजे विकल्प थे।

यहां एक पल ठहरकर यह विचार करने की जरूरत है कि हम तो उस योरप की तरह किसी नवजागरण की पृष्ठभूमि में खुद को नहीं गढ़ रहे थे। हमें दूर पश्चिम से आई सत्ता अपने मुताबिक आकार देने की कोशिश कर रही थी। उनका समाज जिन मूल्यों के लिए संघर्ष करके पहुंचा (दीपांकर गुप्ता : 2000), वह मूल्य हमारे समाज में आधे-अधूरे और अंतर्विरोधों के साथ पहुंचाए जा रहे थे। शिक्षा के अंतर्गत वैध 'ज्ञान' का चयन करना उनका विषय था। हम उनकी दृष्टि में 'वे' थे, जिन्हें नागरिकों के रूप में गढ़ा जाना था। जब हम इस अवधारणा को देश के निवासियों के साथ जोड़कर देखना शुरू करते हैं, तब हमें कुछ-कुछ समझ में आने लगता है, क्यों उस औपनिवेशिक काल में हमारा लोक और यहां के निवासी 'विद्यार्थी' की भूमिका में आए होंगे? वह ज्ञान का सृजन करते भी तो कैसे? उनके अनुभवों, स्मृतियों, परंपराजनित ज्ञान में वैज्ञानिकता का अभाव था। 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विचार पद्धति' ही औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली में 'ज्ञान' का एक मात्र स्रोत थी।

ज्ञानमीमांसीय आधार

यहां, बिल्कुल इसी बिन्दु पर हम यह पाते हैं कि एक और ज्ञानमीमांसीय प्रश्न हमारे सामने उत्पन्न हो रहा है, जिसमें 'ज्ञान की वैधता' और 'उसका सृजन' कौन कर रहा है (?) जैसे जटिल सवाल पैदा हो रहे हैं। आदित्य निगम कहते हैं कि पश्चिमी आधुनिकता में ज्ञान का एक मात्र स्रोत वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं विचार पद्धति थी। सच एक है और वह वैज्ञानिकों या विशेषज्ञों को ही हासिल हो सकता है, इस विचार के नतीजे आगे चलकर दूरगामी होने थे। अब यह सोच पाना भी मुमकिन नहीं था कि (उनकी दृष्टि में) जहालत में जीने वाले, अनपढ़, और गंवार लोगों के पास भी कोई ऐसी चीज हो सकती है, जिसका कोई ज्ञानमीमांसीय मूल्य लगाया जा सकता हो। इस नजरिए में तजुर्बे के आधार पर संचित यानि अनुभव आधारित ज्ञान की कोई जगह नहीं हो सकती थी, क्योंकि उसमें हमेशा 'वस्तुनिष्ठ' और सही वैज्ञानिक पद्धतियों का अभाव रहता है। इस विचार के तहत आम लोगों का अपना ज्ञान चूंकि उनके भोगे हुए सच का ही आईना होता है, इसलिए वह 'ज्ञान का ओहदा' पाने का हकदार नहीं रह जाता।

यह वही 'ज्ञानमीमांसीय आधार' है, जिस पर 'औपनिवेशिक शिक्षातंत्र' स्थापित हुआ। इस आलोक में हम यह देख पाने में थोड़े सक्षम हुए होंगे कि खुद को एवं अपने द्वारा लाई गई शैक्षिक व्यवस्था को 'आधुनिक' कहने के पीछे औपनिवेशिक सत्ता के पास क्या आधार थे और वह कहां से संचालित हो रहे थे। उसने अपने ज्ञान के एक मात्र स्रोत (तर्कवाद से प्राप्त ज्ञान) से परंपरा, संस्कृति, विश्वास, धर्म, लोक जीवन सभी को बाहर कर दिया।

इसका कारण क्या रहा होगा, भीखू पारेख (2001 : 85) महात्मा गांधी के संदर्भ में इसका बड़े ही रोचक ढंग से वर्णन करते हुए कहते हैं, गांधी की दृष्टि में उस आधुनिक (पश्चिमी) सभ्यता की सबसे बड़ी कमजोरी 'तर्क' की सीमा को न पहचान पाना था। उनके लिए 'तर्क' सिर्फ और सिर्फ प्रत्यक्षवादी शब्दावली (Positivist terms) में पारिभाषित हो रहा था और वही उनके यहां ज्ञान का एक मात्र स्रोत मान लिया गया था। 'तर्कवाद' (Rationalism) केवल एक ही प्रकार के ज्ञान को वैध मानता है, और वह है 'वैज्ञानिक' ज्ञान।

गांधी की दृष्टि में तर्कवाद अपने आप में कई तरह के ज्ञान को अपनी सीमा से बाहर कर देता है, जिसमें धर्म, विश्वास, अनुभूतिजन्य ज्ञान, परम्पराओं इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। इस रूप में तर्कवाद स्वाभाविक रूप से श्रेणीबद्ध या पदानुक्रमिक (Hierarchical) रहा है, जिसे वह साम्राज्यवादी अभिमुखता (Imperialist orientation) की ओर झुका हुआ कहते हैं। इस तरह तर्कवाद का रुझान या प्रवृत्ति सभी व्यक्तियों को एक रूप में ढालने की तरफ होती है, जिससे उनकी विविधता छिप जाती है या खत्म हो जाती है। वह सिर्फ एक ही तरह के मनुष्य बनाने का दावा करता

है और उसे आदर्श की तरह प्रस्तुत करता है, जिसका प्रभाव यह पड़ता है कि सभी एक ही तरह की जिंदगी जीने लग जाएं और उसी तरह बनने का प्रयास करने लगे। यह लोगों के विविध स्वभावों का सम्मान नहीं करता न ही उन विविध संस्कृतियों का आदर करता है, जिनके बीच वे मनुष्य निर्मित हुए हैं।

निष्कर्ष के बजाए

आधुनिकता के इस विमर्श में ज्ञान को स्थित करते हुए हम यह पाते हैं कि हमारा शैक्षिक विमर्श औपनिवेशिक छाया से अभी तक पूरी तरह नहीं निकल पाया है। हम अपने व्यक्तिगत उदाहरणों में बड़ी सरलता से यह समझ सकते हैं कि शिक्षा व्यवस्था किस तरह एक को 'वैध ज्ञान' कहती है और दूसरे को वह वरीयता न देकर उसे 'अवैध ज्ञान' बताती है। वैकल्पिक विद्यालयों और अपवादों को छोड़कर मुख्यधारा के विद्यालयों, उनकी पाठ्यचर्या में हम इस विचार को आसानी से रेखांकित कर सकते हैं। बारीकी से देखिए जातिगत पेशों को कितनी जगह मिलती है? फिर हम कहते हैं, शिक्षा आधुनिक मूल्यों की संवाहक है। महात्मा गांधी जिसे 'उत्पादक कार्य' कहते हैं, उसका प्रतिनिधित्व देख लीजिए। जो कार्य जाति की परिधि से निकलकर विद्यालयी कक्षाओं में नहीं आ पाए, उस स्थिति में हम कल्पना करते हैं, समाज की संरचना में आमूलचूल परिवर्तन शिक्षा के सहारे संभव है। थोड़ा सोच कर देखिए। टैगोर जिस विचार को शिक्षाशास्त्र का आधार बनाते हैं, क्या वह सिर्फ पाठ्यचर्या के पैसेपन के लिए है?

चलिए सबसे आसान काम करते हैं। हम अपने चारों तरफ उत्पादक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों से घिरे हुए हैं। उन्हें देखते हैं। उनके बिना हमारे कई कार्य नहीं होते लेकिन जैसे ही कोई अवसर आता है, हम उन्हें अभी भी 'जाहिल' कहकर यह बताते आए हैं कि हम जिस औपचारिक शिक्षा पद्धति से शिक्षित होकर आए हैं, वही 'ज्ञान' की श्रेणी में आता है। उनके हिस्से जो कौशल या ज्ञानकोश हैं, वह सब हमारी नजरों में मूल्यहीन हैं। यह शिक्षा इसी तरह वर्चस्व को स्थापित करती है और हम सामाजिक संरचना को इसी के अनुसार वर्गीकृत करते हैं। अब आप शायद इस प्रश्न का उत्तर भी दे पाएं, ऐसी शिक्षा किनके मंतव्यों को पोषित करती है? हम देख रहे हैं, उसे यह शक्ति आधुनिकता के विमर्श ने दी है। इस उपक्रम में क्रमशः यह भी स्पष्ट हो रहा है, कैसे आधुनिकता और शिक्षा के मध्य अंतर्क्रिया ने ज्ञान को गढ़ा और उसके ऐसा करने से आज हम किस तरह सामाजिक ताने-बाने को बुन रहे हैं। हम जिसे आधुनिकता का उपकरण मान रहे हैं, यह वैसा (साधन) नहीं है। ◆

लेखक परिचय : फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान (CIE) से 'ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता और शिक्षा की अंतर्क्रिया' विषय पर शोध कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : shachinderarya@gmail.com

संदर्भ

Appadurai, Arjun (1996), *Modernity at Large*. London: University of Minnesota Press.

Batra, Poonam (2015), 'Curriculum in India: Narratives, Debates, and a Deliberative Agenda' in Pinar, William. (ed.) *Curriculum Studies in India*. New York: Palgrave Macmillan, pp. 35-64.

Deshpande, Satish (2003), 'Mapping a Distinctive Modernity', In *Contemporary India*, (pp25-47), India, Penguin.

Gupta, Dipankar (2000), 'India's Unmodern Modernity, in Thapar, Romila. (ed.) *India another Millennium? India*, Viking by Penguin books, pp. 85-107,

Hosagrahar, Jyoti (2005), *Indigenous Modernities: Negotiating Architecture and Urbanism*, India, Routledge.

Kumar, Krishna (1991), *Political Agenda of Education*, Sage.

Mukhia, Harbans (2013), *Subjective Modernities*. Delhi. NMML.

Nigam, Aaditya (2000), *Secularism, Modernity, Nation: Epistemology of the Dalit Critique*, EPW, 4256-4268

Parekh, Bhikhu (2001), *Gandhi, Very Short Introduction*, OUP.

Srivastava, Sanjay (2015), 'Schooling, Culture, and Modernity', In Meenakshi Thapan (Ed.) *Education and Society*. Delhi, OUP.